भारतीय सिनेमा में स्त्री अस्मिता का विश्लेषण

मंजुल कुमार सिंह*

manjulsingh3393@gmail.com

शोध सार-

आज के आधुनिक संदर्भ में यदि सिनेमा को समाज की धड़कन कहा जाए तो गलत नहीं होगा। यदि धड़कनों का सही सामंजस्य नहीं होगा तो समाज रूपी शरीर सही ढंग से कार्य नहीं कर सकेगा। उसी प्रकार समाज में स्त्री-पुरुष प्रतिनिधित्व का उचित सामंजस्य नहीं होगा तो समाज भी सही प्रकार से कार्य नहीं कर सकेगा। लेकिन समाज की धड़कन कहे जाने वाले सिनेमा में स्त्री-पुरुष के सामंजस्य में कमी दिखाई देती है, जिस कारण सिनेमा में स्त्री की अस्मिता को लेकर अनेक प्रश्न खड़े होते हैं। जैसे- सिनेमा में स्त्री को कैसे प्रदर्शित किया गया है? सिनेमा में स्त्री पात्रों के साथ कैसा व्यवहार किया गया है? क्या सिनेमा के माध्यम से स्त्री की समस्याओं को सही परिप्रेक्ष्य में प्रदर्शित किया गया है? क्या सिनेमा में स्त्री की स्थिति के कारणों का पता लगाया गया? यदि पता लगाने का प्रयास किया गया, तो क्या वह प्रयास कुछ समाधान निकालता है? और न जाने ऐसे कितने ही प्रश्न स्त्रियों से संबंधित है पर सबका उत्तर नकारात्मक ही है।

भारतीय समाज पुरातन काल से पितृसत्तामक व्यवस्था के अधीन रहा है। यही पितृसत्तामक अवधारणा नारी शोषण का मुख्य कारण रही है। जिस कारण नारी को समाज में, साहित्य में, यहाँ तक कि सिनेमा में भी दोयम दर्जे और हाशिए पर रखा गया।

"विशीलः कामवृत्तो वा गुणैर्वा परिवर्जितः।

उपचारः स्त्री साध्व्या सततं देववत् पतिः।।"[1]

अर्थात् 'पति के दुराचारी, कामी तथा गुणहीन होने की स्थिति में भी पत्नी का यह धर्म हैं कि देवता के समान मानते हुए उसकी पूजा करें।'

ऐसी ही मानसिकताओं के कारण नारी अस्मिता का का प्रश्न समय के साथ समाज में, साहित्य में और सिनेमा में हाशिए पर जाता रहा और स्त्री अबला, दमित, शोषित एवं धक्कामार स्थिति में जाती रही। "शैक्षिक और न्यायिक दृष्टि से पिछड़े हुए समाजों में जाहिर है कि स्त्री को सम्मान और जायज़ मानवीय अधिकारों से वंचित रहना पड़ता है। यह न केवल उसे, बल्कि पूरे समाज को सुखी और गौरवान्वित होने से वंचित करता है।"[2] सिनेमा अपनी 100 वर्षों से अधिक की यात्रा तय करते हुए इक्कीसवीं सदी के तीसरे दशक के मध्य में प्रवेश कर चुका है, लेकिन अब भी लगातार स्त्री अस्मिता का प्रश्न सिनेमा और समाज में वैसा ही बना हुआ हैं।

बीज शब्द- भारतीय सिनेमा, स्त्री, अस्मिता, समाज, स्त्री छवि, बॉलीवुड, समानता, प्रतिनिधित्व, फिल्म।

---

* **शोध छात्र (हिंदी विभाग), दयानन्द गर्ल्स पी. जी. कॉलेज, कानपुर**

संबद्ध- छत्रपति शाहू जी महाराज विश्विद्यालय, कानपुर

भारतीय समाज में किसी भी नई क्रांति, विचारधारा या तकनीक को प्रारम्भ में हिकारत की दृष्टि से देखा जाता है। यही दृष्टि सिनेमा के शुरुआती दौर के साथ रही। भारतीय फिल्म उद्योग के पितामह दादा साहब फाल्के (धुंडिराज गोविंद फाल्के) अपनी पहली फिल्म 'राजा हरिश्चंद्र' (1913) का निर्माण कार्य आरंभ करते हैं। यह फिल्म सत्यवादी राजा हरिश्चंद्र के जीवन चरित्र पर आधारित थी। फिल्म में राजा हरिश्चंद्र की पत्नी तारामती के अभिनय के लिए कोई भी महिला नहीं मिली, महिला की तलाश में दादा साहब फाल्के को वेश्यालयों तक जाना पड़ा, किन्तु सिनेमा के प्रति समाज में बने हीन दृष्टिकोण के कारण वहाँ भी किसी ने फिल्म में काम करना स्वीकार नहीं किया। अंततः तारामती के अभिनय की भूमिका को 'अन्ना सालुंके' नामक पुरुष ने निभाया और यहीं से सिनेमा और स्त्री के बीच की दूरी के बीज अंकुरित हुए। अत: अभिनय की दृष्टि से 'अन्ना सालुंके' को भारतीय सिनेमा की प्रथम नायिका कह सकते हैं।

सिनेमा के शुरुआती दौर में फिल्में पौराणिक कथाओं पर आधारित थी, जिस कारण स्त्री अस्मिता का प्रश्न देखने को नहीं मिलता है। सिनेमा समाज का अनुकरण कर समाज से प्रभावित होता हैं, तत्कालीन समाज में जो स्त्री अस्मिता के प्रश्न उठ रहे थे चाहे वे राजा राममोहन राय, ज्योतिबा फुले या महात्मा गांधी द्वारा हो उनका प्रभाव कहीं न कहीं सिनेमा में भी देखने को मिलता हैं। इन सामाजिक परिवर्तनों के कारण भारतीय सिनेमा में कुछ सामाजिक समस्याओं से जुड़ी फिल्में आती है, किंतु स्त्री अस्मिता का प्रश्न इनमें भी खोया-खोया महसूस होता है। इन फिल्मों के माध्यम से स्त्री का वही आदर्श रूप प्रदर्शित किया जा रहा था, जो हमे धार्मिक पुस्तकों में देखने को मिलता है।

स्वतंत्रता संघर्ष के दौर में बहुत सी ऐसी फिल्में भी बनी जिनमें स्त्री के बारे में प्रगतिमूलक सोच को अपनाया जाने लगा। जिससे 'अहिल्या उद्धार' (1919), 'इंदिरा एम. ए.' (1934), 'अछूत कन्या' (1936), 'अमर ज्योति' (1936), 'दुनिया न माने' (1937), 'बाल योगिनी' (1937), 'औरत' (1940), आदि फिल्मों का निर्माण हुआ। इन फिल्मों के माध्यम से दहेज प्रथा, बाल विवाह, अनमेल विवाह और अंतर जातीय विवाह जैसी नारी विषयक समस्याओं को उठा कर समाधान के लिए आदर्शोंमुख तरीके प्रस्तुत किये गये। किन्तु इन फिल्मों के केन्द्र में स्त्री कहीं नहीं थी, उसकी मुक्ति का रास्ता पुरुषवादी वर्चस्व की दया पर ही निर्भर था। फिर भी स्त्रियां अपनी अस्मिता को लेकर सिनेमा में संघर्षरत थी और 'देविका रानी' भारतीय सिनेमा की पहली महिला फिल्म स्टार बनी।

स्वतंत्रता प्राप्ति के पश्चात, संविधान लागू होने से समाज के प्रत्येक वर्ग में अपने प्रतिनिधित्व को लेकर एक आशा जागृत हुई। स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद का दौर भी स्त्रीवादी सिनेमा के दृष्टिकोण से दूर रहा। इस दौर में महज एक आध ही स्त्री दृष्टिकोण से परिपूर्ण फिल्म 'सुजाता' (1959), 'बंदिनी' (1963) नज़र आती है। इस दौर की नायिका नायक पर निर्भर रही, नायिका का चित्रण एक 'शो पीस' की तरह किया जाता रहा। यदि कुछ फिल्मों में नायिका अपने अधिकारों और अस्मिता के लिए तनकर खड़ी हुई तो वह जल्द ही सामाजिक बंधनो की जकड़न में आ गई, और पुरुष के पैरों में पड़ी दासी की भांति 'न जाओ सैंया छुड़ा के बैंया / कसम तुम्हारी मैं रो पड़ूंगी' की विनती करती हुई नजर आती है। इस तरह का सिनेमा पुरुषवादी वर्चस्व को बनाए रखने में अपनी अहम भूमिका अदा करता है। जिसके कारण स्त्री की सामाजिक स्थिति दोयम दर्जे की बन जाती है। इस संबंध में 'सीमोन द बोउवार' लिखती है- "औरत की नियति और सम्पूर्ण महत्ता इस बात में निहित है कि वह पुरुष के दिल की धड़कन बढ़ा सके। वह जंगम संपत्ति है, जिसको पुरुष जहाँ चाहे छांटकर ले जा सकता है।"[3] धीरे-धीरे सिनेमा में व्यावसायिकता बढने लगी और सामाजिक सोद्देश्यता को तिलांजलि दे दी गई। जिसमें नारी

जीवन के हर पक्ष का शोषण किया जाने लगा, उसे ऐसी वस्तु में बदल दिया गया जिसकी सहायता से उसके सौन्दर्य, विशेषताओं और कमजोरियों का व्यावसायिक इस्तेमाल किया जाए जा सके।

हिंदी सिनेमा में राजेश खन्ना और अमिताभ बच्चन के पदार्पण के साथ ही 'स्टार सिस्टम' को बड़े पैमाने पर आगे रखा जाने लगा। राजेश खन्ना का 'रोमांटिक मिजाज', अमिताभ बच्चन की 'एंग्री यंग मैन' जैसी संकल्पनाओं की शुरुआत से नायिका की भूमिका गौण होने लगी। फिल्मों में नायिकाएं 'शो पीस' की तरह तथा अन्य स्त्री पात्रों को माँ, बहन, बहू, बेटी, सास की तरह प्रदर्शित किया जाने लगा। जिससे फिल्मों में स्त्री का महत्व कम होता चला गया। इन फिल्मों में नायिका की छवि को ऐसे प्रस्तुत किया गया कि उनके 'सपनों का राजकुमार घोड़े पर सवार होकर आयेगा और ले जायेगा' या 'सजना है मुझे सजना के लिए' गाते हुए नायक के लिए सुंदर दिखने का प्रयत्न कर रही है। सिनेमा के व्यावसायीकरण ने कभी भी स्त्री की मूल संवेदनाओं और समस्याओं के प्रस्तुतीकरण का कोई कार्य नहीं किया, स्त्री छवि की पूर्ववत चली आ रही परिपाटी का ही अनुसरण किया। "हिंदी के व्यावसायिक सिनेमा में नारी की दो छवियां बार-बार दोहराई गई हैं। या तो वह किसी त्रिकोणात्मक या चतुष्कोणात्मक प्रेम कहानी की नायिका या खलनायिका है या फिर किसी परिवार की सदस्य मां, बहू, बहिन, बेटी और सास के रूप में। अपने पहले रूप में वह प्रेम कहानी के माध्यम से ग्लैमराइज की जाती है और उसके शारीरिक सौंदर्य का भरपूर इस्तेमाल किया जाता है।"[4] ऐसी निर्देशकीय सोच के कारण अच्छी और बुरी औरत के सांचों में स्त्री अस्मिता का मूल स्वर विलुप्त होता गया। नायक की हिंसात्मक कार्यवाही को ही तत्कालीन सिनेमा का मूल स्वर माना जाने लगा। ऐसे दौर में जब सिनेमा में स्त्री के लिए कोई स्थान नहीं बचता तो फिल्मकार स्त्री मुद्दों के नाम पर बलात्कार, अपहरण, वेश्यावृत्ति, न्यूडिटी (अंग प्रदर्शन), बार गर्ल जैसे हॉट टापिक उठाता है, जिनके अंतरंग दृश्य दर्शकों को अपनी ओर आकर्षित करते हैं और फिल्म में नायक के प्रतिशोध का कारण बनते हैं। स्त्री की इन विषम परिस्थितियों पर जवरीमल्ल पारख लिखते हैं- "हिंसा और बलात्कार जुल्म को अधिक उत्तेजक, नाटकीय और प्रतिशोधक बनाते हैं। इनका दृश्यांकन दर्शकों को तत्काल अपनी गिरफ्त में ले लेता है। जुल्म के प्रतिशोध में नायक द्वारा किया गया कोई गैरकानूनी, अमानवीय और क्रूर कृत्य अपने आप न्यायोचित बन जाता है। बलात्कार खलनायक को तड़पा-तड़पा कर मारने का उचित कारण बन जाता है, साथ ही यह नारी देह के नग्न प्रदर्शन का अवसर भी देता है।"[5] फिल्म निर्माण कार्य एवं दर्शक वर्ग में पुरुषों की अधिकता के परिणामस्वरूप फिल्म की पूरी अर्थ नीति पुरुष के पक्ष में आंकी जाती हैं। फिल्म की आर्थिक सफलता का भार नायक के सशक्त और मजबूत कंधों पर निर्भर है, ऐसा समाज में प्रस्तुत किया जाता है। इस कारण फिल्मों में स्त्रियों को इस तरह प्रदर्शित किया गया है कि वे पुरुष के आकर्षण का कारण बन उन्हें आकृष्ट करें। ऐसी विचारधारा को व्यावसायिक फिल्मों से प्रोतसाहन मिलता है, जिस कारण से स्त्री का सशक्त प्रस्तुतिकरण आजतक धूमिल बना हुआ हैं। "फ़िल्म निर्माण खर्चीला व्यवसाय है। यदि वह बाक्स ऑफ़िस पर पिट जाती है तो निर्देशक तथा सितारों से लेकर तकनीकी कर्मचारियों की प्रतिष्ठा दाँव पर लग जाती है। इसलिए निर्माताओं का प्रथम लक्ष्य होता है स्त्री का यथासंभव प्रदर्शन ताकि पुरुष दर्शकों को कामासक्त आनंद की अनुभूति हो सके।"[6]

भारतीय सिनेमा का मुख्य केंद्र बिन्दु है- समाज। भारतीय सिनेमा में समय-समय पर अपने समाज की किसी एक समस्या को केंद्र में रखकर सिनेमा का निर्माण किया जाता रहा है। जिनमें दलित, स्त्री, आदिवासी विमर्शों को लेकर कुछ फिल्मों का निर्माण हुआ, वह दौर था- 'समानांतर सिनेमा' का। समानांतर सिनेमा के दौर में स्त्री अस्मिता को केंद्र में रखकर कुछ फिल्मों का निर्माण हुआ। समानांतर सिनेमा ने स्त्री अस्मिता को

एक खुला आसमान देने का प्रयास किया, जिसमें स्त्री अपने उन्मुक्त विचारों और भावनाओं के साथ खुले आसमान में कुलाचे भर सकती थी। अपने अधिकारों के लिए समाज की चली आ रही परिपाटी के विरुद्ध विद्रोह कर सकती थी। इन फिल्मों के माध्यम से स्त्रियों पर की जाने वाली हिंसा, अत्याचारों को मार्मिकता एवं संवेदनशीलता के साथ प्रस्तुत किया गया।

इस दौर में नये निर्माता, निर्देशक अपनी नई-नई विचारधाराओं के साथ सिनेमा में प्रवेश कर रहे थे। उन्होंने स्त्री को सिर्फ प्रेमिका, माँ, बहन, भाभी और सास की परिपाटी से निकाल कर उनके जीवन की समस्याओं और संघर्षों को अपनी फिल्मों का आधार बनाया। इन फिल्मों के कथानक का स्वर स्त्री हित के लिए प्रतिशोध की गूंज थे। समानांतर सिनेमा के दिग्गज फिल्मकार श्याम बेनेगल, ऋषिकेश मुखर्जी, मणि कौल, गुलजार, गोविंद निहलानी आदि निर्देशकों ने स्त्री अस्मिता एवं चिंतन संबंधी सामाजिक यथार्थ को बिना किसी अतिरेक के पर्दे पर 'उसकी रोटी' (1969), 'सारा आकाश' (1969), 'माया दर्पण' (1972), 'अभिमान' (1973), 'अकुंर' (1974), 'आंधी' (1975), 'भूमिका' (1977), 'सुबह' (1982), 'बाजार' (1982), 'अर्थ' (1982), 'गिद्ध' (1984), 'मिर्च मसाला' (1985), 'इजाजत' (1987) जैसी फिल्मों के माध्यम से उतारा। इन फिल्म निर्देशको ने एक अलग जॉनर (शैली) की फिल्में बनाई, जिसमें स्त्री जीवन के श्याम (काले) पक्ष को तवज्जो दी गई। इन फिल्मकारों की फिल्में महिलाओं का अधिक प्रामाणिक प्रतिनिधित्व करने में सफल रही। समानांतर सिनेमा के माध्यम से स्त्री अस्मिता जैसे विमर्श को शबाना आज़मी, स्मिता पाटिल, सुचित्रा सेन, जया भादुरी, शर्मिला टैगोर जैसी गिनी चुनी नायिकाओं ने इस पुरुष प्रधान सिनेमा रूपी पुख्ता दीवार में सेंध मारने की पूरी कोशिश की। हिंदी सिनेमा में स्त्री विमर्श को जो भी स्थान मिला है, उसमें समानांतर सिनेमा का महत्त्वपूर्ण योगदान हैं।

समानांतर सिनेमा में हिंसा, अंग प्रदर्शन, प्रेम गीत, आइटम सॉन्ग जैसी घृणित व्यवस्थाओं के न होने के कारण दर्शक वर्ग द्वारा इन फिल्मों को नकारा गया और इस प्रकार की फिल्में बस एक सीमित वर्ग तक ही सिमट कर रह गई। सिनेमा एक व्यावसायिक माध्यम है जिसके निर्माण में अधिक धन की आवश्यकता पड़ती है। इन फिल्मों के निर्माण के लिए निर्देशक सरकारी संस्थाओं या क्राउड फंडिग के माध्यम से पैसा जुटाते थे। आर्थिक सहयोग की कमी के कारण समाज के प्रत्येक विमर्श को मुखर रूप से उठाने वाला समानांतर सिनेमा धीरे-धीरे गर्त में जाता रहा और आर्थिक रूप से सफल फिल्मों द्वारा इस धारा के संदेश को दबाया जाता रहा।

भारतीय सिनेमा में एक दौर समस्या विहीन फिल्मों का भी चला। जिसमें किसी स्त्री अस्मिता के प्रश्न को उठाए बिना बस नायक का नायिका को प्राप्त करने का उद्देश्य होता था। ये ऐसी ही फिल्में थी जिनमें समस्या ढूंढ़ने पर भी नहीं मिल पाती थी। इन फिल्मों में नारी के सौंदर्य का अर्थ, पुरुष की यौन इच्छाओं को तृप्त करना होता था। इन फिल्मों से धनोपार्जन करने के लिए नायिका के अंगों का प्रदर्शन करना निर्देशक बखूबी जानते थे। दर्शक की यौन इच्छाओं को जागृत कर उनकी पूर्ति करने के लिए फिल्म निर्माता और निर्देशक फिल्म के कथानक को ऐसे मोड़ पर ला खड़ा करते थे, जिसमें नायिका का नायक के साथ हमबिस्तर होना, नायिका का गाना गाते हुए स्नान करना, तूफान या बिजली की गड़गड़ाहट सुन नायिका का नायक को आलिंगन में भर लेना, खलनायक द्वारा नायिका को नहाते हुए देखना और भी न जाने ऐसी कितनी ही स्थितियां नायिका के अंग प्रदर्शन के लिए कथानक में जोड़ दी जाती थी। इस प्रकार की फिल्मों का एक बड़ा दर्शक वर्ग युवाओं का था जो स्त्री को भोली-भाली गृहिणी या चंचला के रूप में स्वीकार कर रहा था। फिल्म में दिखाई जा रही स्त्री के गुणों की तुलना वह समाज की स्त्रियों से कर रहा था, जिस कारण समाज की मानसिकता भी दूषित हो रही थी।

ब्रिटिश अभिनेत्री एम्मा थॉम्पसन कहती है- "सिनेमा का आठवाँ दशक नैतिक दृष्टि से बिल्कुल दिवालिया था। मुनाफ़ा ही उसका प्रमुख उद्देश्य था, जिसका सीधा सम्बन्ध उन भूमिकाओं से रहा है, जो फ़िल्मों में स्त्री को दी जाती रहीं।..... स्त्री का मतलब या तो भली और भोली-भाली गृहिणी या फिर पुरुषों को लुभाने वाली चंचला।"[7] इन फिल्मों के प्रदर्शन के कारण समाज और सिनेमा में स्त्री अस्मिता का प्रश्न और अधिक दबता चला गया।

1990 के बाद का समाज भूमंडलीकरण (Globalization) और औद्योगिकरण (Industrialization) के दौर में प्रवेश करता है। समाज में महिलाओं के लिए शिक्षा, व्यवसाय और रोजगार के अनेक रास्ते खुलते हैं। समाज में मंडल कमीशन, बाबरी विध्वंश, मिस इण्डिया, मिस यूनिवर्स जैसे अनेक घटना क्रम होते हैं। स्त्री विमर्श, दलित विमर्श, आदिवासी विमर्श जैसे ज्वलंत मुद्दे समाज के समक्ष मुखर रूप से प्रकट होते हैं। इसकी कुछ झलक सिनेमा में भी देखने को मिलती है। भूमंडलीकरण के दौर से पहले सिनेमा में स्त्री को प्रेमिका, माँ, बहन, भाभी, सास के रूप में दिखाया जाता था। लेकिन इस दौर में स्त्रियों ने पर्दे के पीछे की दुनिया में भी कदम रखना शुरु किया। इस दौर में स्त्रियां सभी विभागों में (निर्माता, निर्देशक, संपादन, छायांकन, गायन, गीतकार, संगीतकार, कोरियोग्राफर, तकनीकी विभाग, मेकअप आर्टिस्ट) अपना प्रतिनिधित्व स्थापित करती है। महिलाओं के इस मुकाम तक पहुंचने के बाद उन्हें सिनेमा के सबसे घृणित रूप कास्टिंग काउच का सामना करना पड़ा। फिल्मों में अभिनेत्रियों को अभिनय एवं अन्य विभागों में काम करने के लिए कास्टिंग काउच जैसी प्रथाओं का सामना करना पड़ रहा था। जिस कारण अपने कार्य में कुशल महिलाओं को फिल्मों में काम करने के अपने सपने का गला घोंटना पड़ा। जिस कारण स्त्री अस्मिता जैसे विषय पुनः फिल्मों में द्वंद की स्थिति में पहुंच जाता है।

भारतीय फिल्म उद्योग विश्व में फिल्म निर्माण कार्य में सबसे बड़ा माना जाता है। यहां प्रतिवर्ष 1000 से अधिक फिल्मों का निर्माण होता है। यदि हम भारतीय सिनेमा के प्रत्येक विभाग में स्त्री प्रतिनिधित्व की बात करें तो यह सख्या पुरुषों की तुलना में न के बराबर है। स्त्री चाहे अपने कार्य में कितनी भी कुशल और दक्ष क्यों न हो पर उसे समाज और सिनेमा में पुरुषों के समान अधिकार नहीं दिए जाते हैं। यदि स्त्री अपनी क्षमता के आधार पर अपना हक ले लेती है, तो समाज उसे हास्यप्रद बनाने की पुरजोर कोशिश करता है। अभिनेत्री करिश्मा कपूर एक साक्षात्कार में अपना अनुभव साझा करते हुए कहती है- "लोग जैसा सोचते हैं, उतना आसान भी तो नहीं रहा। मुझे फिल्म मिली तो कई लोगों की भवें तन गई। कई लोगों ने मजाक भी उड़ाया। सभी जानते हैं कि मुझे मेरे माता-पिता ने पेश नहीं किया था।"[8]

भूमंडलीकरण के दौर में सिनेमा का एक धड़ा विदेशी परिवेश से सुसज्जित होकर भारत में आ रहा था और विदेशों में जाकर अपने लिए नये रास्तों की तलाश भी कर रहा था। इन फिल्मों के माध्यम से भारतीय पारिवारिक माहौल तो बनाया जाता था किंतु नायिका को माता पिता की कठपुतली या नायक की गुड़िया (Doll) की तरह प्रस्तुत किया जाता था। इन फिल्मों के माध्यम से समाज की अन्य कुरीतियों दहेज प्रथा, तलाक, पुनर्विवाह, प्रेम विवाह, नारी शिक्षा जैसी समस्याओं को तो दिखाया जा रहा था किन्तु स्त्री अस्मिता और प्रतिनिधित्व जैसे सवालों को दबा दिया जाता था। इस दौर की फिल्में गीतों को भी अपना केंद्र बिन्दु बना कर धनोपार्जन का कार्य कर रही थी। जिनमें स्त्री के सौंदर्य का गीतकार नख-शिख तक का वर्णन कर देता था।

इक्कीसवीं सदी के समाज और सिनेमा में स्त्री अस्मिता और प्रतिनिधित्व के अकुंर पुनः सृजित होते हुए दिखाई देते हैं। समाज ने 'स्त्री की न का अर्थ न ही होता है' समझना शुरु कर दिया। यदि स्त्री को किसी भी कार्य या क्षेत्र में अपना शोषण महसूस होता, तो वह मुखर रूप से उस कार्य के लिए मना कर देती है। महिलाएं अब पारंपरिक और आधुनिक दोनों ही रूपों में है, वह अपने अधिकारों के प्रति सचेत है। उन्हें अपनी अस्मिता और सीमाएं मालूम है। वह अपने मन की इच्छाओं की पूर्ति के लिए समाज और सिनेमा में संघर्ष करती है।

इक्कीसवीं सदी की महिलाओं में सिने-साक्षरता भी बढ़ी है। वे जानती है कि महिला का सिनेमा में गलत चित्रण समाज में स्त्री के प्रति गहरा एवं बुरा प्रभाव डालती हैं। महिलाओं की सिनेमा तक पहुंच (चाहे वह दर्शक रूप में हो या कार्य क्षेत्र रूप में) के कारण अब स्थिति बदल रही है। सिनेमा में आधुनिक सोच के निर्देशक, अभिनेत्रियों के द्वारा पात्र या चरित्र चुनने की स्वतंत्रता, प्रत्येक विभाग में स्त्रियों के थोड़े बहुत प्रतिनिधित्व के कारण समाज और सिनेमा में सकारात्मक परिवर्तन आया है। इन परिवर्तनों के कारण सिनेमा में दीपा मेहता, मीरा नायर, सई परांजपे, कल्पना लाज़मी, जोया अख्तर, मेघना गुलजार, गौरी शिंदे, रीमा कागती, किरण राव, सोनाली बोस, अलंकृता श्रीवास्तव, लीना यादव, अश्विनी अय्यर तिवारी, आरती कड़व, पायल कपाड़िया जैसी अनेक फिल्म निर्देशिकाओं का प्रादुर्भाव हुआ। जिन्होंने अपनी संवेदनशीलता और बौद्धिकता के आधार पर 'वाटर' (2005), 'द नेमसेक' (2006), 'जिदंगी न मिलेगी दोबारा' (2011), 'इंग्लिश विंग्लिश' (2012), 'मार्गरीटा विद ए स्ट्रा' (2014), 'पार्च्ड' (2015), 'डियर जिंदगी' (2016), 'नील बटे सन्नाटा' (2016), 'लिपस्टिक अंडर माई बुर्का' (2016), 'बरेली की बर्फी' (2017), 'राज़ी' (2018), 'छपाक' (2020), 'दहाड़' (2023), 'ऑल वी इमेजिन एस लाइट' (2024), 'लापता लेडीज़' (2024), 'मिसेज' (2025) जैसी नारी विषयों पर या नारी केंद्रित पात्रों पर फिल्में बनाई। इन फिल्मों के माध्यम से इन फिल्म निर्देशिकाओं ने स्त्री जीवन के मार्मिक पक्षों की पड़ताल करने की कोशिश की है। ये कुछ फिल्में समाज द्वारा वर्षो से दबायी जा रही स्त्री पीड़ा की अभिव्यक्ति है। स्त्री निर्देशिकाओं का इन स्वरों को छूना उनकी अस्मिता की आवाज़ को बुलंद करता है।

स्त्री का आर्थिक रूप से मजबूत होना, उनकी मल्टीप्लेक्स सिनेमा घरों तक की पहुंच के कारण एवं पुरुष वर्ग में उत्पन्न स्त्री अस्मिता के प्रति मार्मिक दृष्टिकोण की वजह से कुछ पुरुष फिल्मकार 'लज्जा' (2001), 'पेज 3' (2005), 'फैशन' (2008), 'चक दे इंडिया' (2007), 'तनु वेड्स मनु' (2011), 'कहानी' (2012), 'हीरोइन' (2012), 'क्वीन' (2014), 'मर्दानी' (2014), 'गुलाब गैंग' (2014), 'मैरी कॉम' (2014), 'मसान' (2015), 'गंगाजल' (2016), 'नीरजा' (2016), 'मॉम' (2017), 'अनारकली ऑफ आरा' (2017), 'थप्पड़' (2020), 'मिमी' (2021), 'सांड की आंख' (2019), 'जनहित में जारी' (2022), 'गंगुबाई काठियावाड़ी' (2022), 'भक्षक' (2024) जैसी स्त्री विषयक फिल्में बना रहे है। जो नये तरह का सिनेमाई सौंदर्य प्रस्तुत करता है। जहां समाज में एक ओर स्त्री विषयक मार्मिक सिनेमा बनाने की कोशिश की जा रही हैं, तो दूसरी तरफ आज भी कुछ फिल्मकार स्त्री अस्मिता से कोई सरोकार नहीं रखते। वे 'जिस्म' (2003), 'हेट स्टोरी' (2012), 'हंटरर' (2015), 'लस्ट स्टोरीज' (2018), 'कबीर सिंह' (2019), 'एनिमल' (2023) जैसी फिल्में बनाकर स्त्री अस्मिता जैसे प्रश्नों का पथ भंग करने की कोशिश करते हैं और पूर्ववत चली आ रही कामासक्त परिपाटी का अनुसरण करते हैं।

आज भी 'कबीर सिंह' (2019), 'एनिमल' (2023) जैसी फिल्मों पर हमारा पुरुष प्रधान समाज मौन साधे हुए हैं। क्या ऐसी फिल्में सच में पुरुषों को महिलाओं के प्रति घोर हिंसा करने वाले जानवर (Animal) के

रूप में बदलना चाहती है। स्त्री की सुंदरता को भारतीय समाज ने साहित्य, कला एवं अभिव्यक्ति के हर माध्यम में यौन वस्तु (Sexually Object) की तरह प्रस्तुत किया है। भारतीय सिनेमा में स्त्री अस्मिता की उपस्थिति कैसी रही है? इसके पक्ष, विपक्ष में अनेक तर्क दिये जा सकते हैं, किन्तु असलियत समाज के सामने है।

सिनेमा में स्त्री अस्मिता पर बात करते हुए यदि सिनेमाई गीतों पर बात न की जाए तो स्त्री विमर्श का एक पक्ष छूट जायेगा। सिनेमाई गीतकारों में सिनेमा के आरंभिक काल से वर्तमान तक पुरुषों का ही वर्चस्व रहा है। सिनेमाई गीतों के लेखन कार्य में संवेदनशील एवं कामुक दोनों प्रकार के गीतों का बोलबाला रहा है। जिस कारण सिनेमाई गीतों में स्त्री अस्मिता का प्रश्न एक द्वंदात्मक स्थिति में देखने को मिलता है। एक ओर स्त्री की मुखर आवाज को उठाते हुए गीत है तो दूसरी ओर कामासक्त गीत। साधना (1958) का गीत 'औरत ने जन्म दिया मर्दों को / मर्दों ने उसे बाजार दिया' पुरुषवादी मानसिकता का यथार्थ चित्रण प्रस्तुत करता है। रिपोर्टर राजू (1962) का गीत 'तुम मर्द निकालोगे घूंघट जब राज हमारा आयेगा / माथे पे तुम्हारे होगी बिंदिया और नाक में नथ लटका देगे' स्त्री के विद्रोही स्वरूप का चित्रण प्रस्तुत करता है। गाइड (1965) का गीत 'कांटों से खींच के आंचल / तोड़ के बंधन, बांधी पायल / कोई न रोको दिल की उड़ानों को' जैसे गीत स्त्री स्वतंत्रता की घोषणा करते हुए प्रतीत होते हैं। वहीं दूसरी ओर अश्लील और कामासक्त करने वाले गीत 'चोली के पीछे क्या है / चुनरी के नीचे क्या है?', 'छत पे सोया था बहनोई / मैं तन्ने समझ कर सो गई', 'कुंडी मत खड़काओ राजा / सीधा अंदर आओ राजा', 'जोबन से अपने पल्लू हटा दूं तो / कौले कांवरों का चेहरा खिले', 'चिकनी चमेली', 'शीला की जवानी', 'मैं तो तंदूरी मुर्गी हूं यार / गट्काले सैयां अल्कोहल से' देखने व सुनने को मिलते हैं।

इन सब कुरीतियों के पश्चात भी गायन के क्षेत्र में स्त्रियों का योगदान अहम रहा है। इस क्षेत्र में शमशाद बेगम, सुरैया, लता मंगेशकर, आशा भोसले, अनुराधा पौड़वाल, कविता कृष्णमूर्ति, अलका याग्निक, श्रेया घोषाल, सुनिधि चौहान, मृणाल पांडेय आदि गायिकाओं ने इस क्षेत्र में अपना प्रतिनिधित्व स्थापित किया। गायन के क्षेत्र में स्त्री प्रतिनिधित्व का कुछ हद तक समान होने का कारण है- परिस्थितियों से समझौता न करना और संगठित रहना। प्रो. रमा कहती है- "हमारी अस्मिता तभी बनेगी जब हमारा बिखरा व्यक्तित्व सिमट जाएगा। जब हम एक हो जाएगी।"[9]

निष्कर्ष-

आज समय और परिस्थितियों के साथ समाज बदल रहा है। उन कारणों से समाज में नये सरोकार और विमर्श उत्पन्न हो रहे है। फिल्में समाज की प्रतिकृति होती है, अतः समाज के बदलने के साथ-साथ सिनेमा का भी बदलना अनिवार्य है। समाज में जब स्त्री की भूमिकाएं बदल रही है तो फिल्मों से भी स्त्री की भूमिकाएं बदलनी चाहिए। निश्चित ही अस्मिता की आदर्श स्थिति बराबरी से कोसों दूर है, लेकिन अब मुख्यधारा की स्त्री निर्देशिकाओं की जिम्मेदारी बनती है कि वे स्त्री के लिए ऐसी भूमिकाओं का सृजन करें जहां स्त्री की प्रतिभा की कोई कीमत न हो, न ही वह सिर्फ पुरुष की हिंसा और कामोत्तेजना की पर्याय बने। "सिनेमा में स्त्री की छवि का मात्र एक यौन वस्तु की तरह शोषण न हो, इसके लिए एक सशक्त संकेत स्त्री-निर्देशकों और अभिनेत्रियों की ओर से भी आना बहुत जरूरी है।"[10] स्त्रियों का सिनेमा के हर वर्ग में प्रवेश शायद स्त्री अस्मिता के उचित रूप, समस्याओं और परिस्थितियों को पर्दे पर प्रस्तुत करने में मददगार साबित हो।

संदर्भ :-

1. श्रीवास्तव, के. सी. (2019). *प्राचीन भारत का इतिहास तथा संस्कृति*. दिल्ली : यूनाईटेड बुक डिपो. पृ. 192
2. नारायण, कुँवर. (2017). *लेखक का सिनेमा*. नई दिल्ली : राजकमल प्रकाशन. पृ. 151-152
3. बोउवार, सीमोन द. (2004). *स्त्री : उपेक्षिता*. (अनु. -प्रभा खेतान) नई दिल्ली : हिंद पॉकेट बुक्स. पृ. 66
4. पारख, जवरीमल्ल. (2023). *लोकप्रिय सिनेमा और सामाजिक यथार्थ*. नई दिल्ली : अनामिका पब्लिशर्स एंड डिस्ट्रीब्यूटर्स (प्रा.) लिमिटेड. पृ. 146
5. पारख, जवरीमल्ल. (2023). *लोकप्रिय सिनेमा और सामाजिक यथार्थ*. नई दिल्ली : अनामिका पब्लिशर्स एंड डिस्ट्रीब्यूटर्स (प्रा.) लिमिटेड. पृ. 106
6. जोशी, ललित. (2012). *बालीवुड पाठ : विमर्श के संदर्भ*. नई दिल्ली : वाणी प्रकाशन. पृ. 100
7. नारायण, कुँवर. (2017). *लेखक का सिनेमा*. नई दिल्ली : राजकमल प्रकाशन. पृ. 151
8. ब्रह्मात्मज, अजय. (2013). *सिनेमा की सोच*. नई दिल्ली : वाणी प्रकाशन. पृ. 62
9. डॉ. रमा. (2022). *हिन्दी सिनेमा में साहित्यिक विमर्श*. हंस प्रकाशन. पृ. 100
10. नारायण, कुँवर. (2017). *लेखक का सिनेमा*. नई दिल्ली : राजकमल प्रकाशन. पृ. 151